''मैं और पिता एक हैं''

(10:22-42)

सिकन्दर महान ने अपने छोटे से परन्तु शानदार जीवनकाल में, संसार के बहुत बड़े हिस्से पर विजय पा ली थी। 323 ई.पू. में तैंतीस वर्ष की आयु में, मरने से पहले उसने अपने विश्वसनीय सेनापतियों को अपना साम्राज्य सौंप दिया था। उनमें से एक, सिल्यूकस प्रथम, सीरिया का शासक बना और सिल्यूसिड राजवंश की स्थापना की। कई वर्ष बाद, उसके वंशजों में से एक, एंटियोकुस ऐपिफेंस, सत्ता में आया और अपने साम्राज्य को मिसर पर आक्रमण करके फैलाने लगा। मिसर पर सफलतापूर्वक विजय पाने के बाद, 169 ई. पू. में उसने यरूशलेम पर चढ़ाई कर दी। वहां पहुंचकर, उसने वेदी में प्रवेश करके वहां की मूल्यवान वस्तुएं उठा लीं।[1]

परन्तु, यहूदियों के मन्दिर को लूटकर एंटियोकुस ऐपिफेंस संतुष्ट नहीं हुआ। वह यह दबाव डालने लगा कि उसके साम्राज्य के सभी लोग अपनी रीतियों और धर्मों को छोड़कर उनके जैसे हो जाएं जो यूनानी भाषा बोलते, यूनानी रीति रिवाजों को अपनाते और यूनानी धर्म को मानते थे।[2] इसके लिए उसने यहूदी लोगों को अपने परमेश्वर के सामने बलिदान देने से, अपने पुत्रों का खतना करवाने, और सब्त को मानना बंद करने की आज्ञा दी। मन्दिर की वेदी पर सूअर (अशुद्ध जानवर जिसे यहूदी लोग परमेश्वर के सामने कभी भेंट नहीं चढ़ाते थे) की बलि देकर अशुद्ध कर दिया गया और व्यवस्था की जो पुस्तकें वहां मिलीं, जला दी गईं।[3] निश्चय ही इस्राएल के इतिहास में यह एक काला दिन था:

> आदेश के अनुसार, उन्होंने उन महिलाओं को जिनके बच्चों का खतना हुआ था व उनके परिवारों और उनको जिनका खतना हुआ था मार डाला; और उन्होंने नवजात शिशुओं को उनकी माताओं के गलों में डाल दिया। परन्तु इस्राएल के बहुत से लोग दृढ़ रहे और उन्होंने अपने मन में अशुद्ध भोजन न खाने की ठान रखी थी। उन्होंने भोजन से अशुद्ध होने या पवित्र वाचा को अपवित्र करने के बजाय मरना उचित समझा। और इस्राएल पर बहुत बड़ा कोप आ पड़ा।[4]

''दृढ़ रहने वाले'' यहूदियों में मत्तथियास नामक एक याजक था। उसने और उसके पांच पुत्रों ने एंटियोकुस ऐपिफेंस की आज्ञा का विरोध किया और उन्हें पहाड़ियों की ओर भगा दिया गया। शीघ्र ही, पूरे देश के लोग उनका साथ देने और सीरिया के लोगों के साथ

युद्ध की तैयारी के लिए आ गए। 167 ई. पू. में जब मत्तथियास की मृत्यु हो गई, तो उसका पुत्र ज्यूडास मकब्युस विद्रोह करने वालों का नेता बन गया। उसके नेतृत्व में, यहूदियों ने कुछ प्रारम्भिक त्रुटियों को दूर करके सीरिया के लोगों को भगा दिया और अपने देश और मन्दिर पर फिर से नियन्त्रण पा लिया। अन्त में सीरिया के लोगों को भगाने में सफल होने पर उनकी पहली प्राथमिकता मन्दिर को शुद्ध करने की थी जिसे एंटियोकुस ऐपिफेंस ने अपवित्र कर दिया था। ''तब ज्यूडास और उसके भाइयों ने कहा, 'देखो, हमारे शत्रु पस्त हो गए हैं; चलो चलकर वेदी को शुद्ध करके इसे समर्पित करते हैं।' ''[5] जब शुद्ध करने और मन्दिर को फिर से समर्पित करने का काम पूरा हो गया, तो ज्यूडास और उसके भाइयों ने निर्णय लिया कि लोग प्रत्येक वर्ष आठ दिन तक मन्दिर का समर्पण समारोह मनाएं। समर्पण का यह पर्व इस्राएल के लिए अपने छुटकारे तथा मन्दिर और वेदी को परमेश्वर के सामने फिर से समर्पित करने को याद करने का त्यौहार बन गया। आज यहूदी लोगों में यह त्यौहार हनुक्काह के नाम से जाना जाता है।

समर्पण के पहले पर्व के लगभग 200 वर्ष बाद, यीशु इस समारोह में भाग लेने के लिए यरूशलेम आया। इस अवसर पर उसने दृढ़ता से यह बताया कि वह कौन था और किस लिए आया था। जैसा कि यूहन्ना 10 अध्याय के आरम्भ में पता चलता है, जैसे-जैसे यीशु बात करता था वैसे ही स्थिति तनावपूर्ण होती जा रही थी। वह अपने श्रोताओं को अपने बारे में निर्णय लेने के लिए विवश कर रहा था। कुछ ने उसमें विश्वास किया, जबकि अन्यों ने जो मुख्यत: यहूदी अगुवे थे उस पर विश्वास नहीं किया, बल्कि उसके हर एक शब्द से उन्हें क्रोध आ रहा था। पवित्र शास्त्र के इस भाग अर्थात यूहन्ना 10:22-42 में दर्ज उनकी भेंटों में, यूहन्ना ने यीशु के विरोधियों द्वारा किए गए तीन आशंकित करने वाले कार्यों और उन पर उसकी प्रतिक्रिया को शामिल किया।

वे उसके इर्द-गिर्द इकट्ठे हो गए (10:22-30)

जब यीशु मन्दिर के उस क्षेत्र में जिसे सुलैमान का ओसारा कहा जाता था, घूम रहा था तो ''यहूदियों ने उसे आ घेरा'' (10:24)। ''आ घेरा'' के लिए प्रयुक्त यूनानी शब्द नये नियम में केवल चार बार ही मिलता है।[6] उनमें से दो अवसरों पर इसका इस्तेमाल चार-दीवारी वाले किसी नगर को घेरा डालकर कब्जे में लेने की प्रक्रिया में किसी आक्रमणकारी सेना का वर्णन करने के लिए किया गया है। यीशु के विरोधी यहूदी उसके चारों ओर गिद्धों की तरह घेरा डाले हुए थे जैसे वे उसकी हड्डियों में से मांस निकालने की योजना बना रहे हों। यह घेरा डालना मित्रों का उसके पास इकट्ठा होना नहीं था; यह तो उसके सबसे बड़े शत्रुओं को डराने के लिए इकट्ठा होना था!

विश्वास न करने वाले यहूदी अगुवे यही ज़ोर देते थे कि यीशु उन्हें बताए कि वह मसीह है या नहीं। वे उसे घेरा डालकर पूछते रहे,[7] ''तू हमारे मन को कब तक दुविधा में रखेगा? यदि तू मसीह है, तो हम से साफ कह दे'' (10:24)। यीशु और उनके बीच जो उसे मारना चाहते थे, तनाव बढ़ता रहा।

पहली बार देखने पर लग सकता है कि उनका प्रश्न ऐसा था जिसका उत्तर यीशु को सीधे दे देना चाहिए था। पर कुछ प्रश्न ऐसे होते हैं जिनका उत्तर केवल ''हां'' या ''न'' में नहीं दिया जा सकता। उनका प्रश्न किसी से यह पूछने जैसा था, ''क्या तुमने झूठ बोलना छोड़ दिया है?'' यदि आप ''हां'' कहते हैं, तो आप यह मान रहे हैं कि आप पहले झूठ बोला करते थे। यदि आप ''नहीं'' कहते हैं, तो यह लगता है कि आप अभी भी झूठ बोल रहे हो! ऐसे प्रश्न का उत्तर ''हां'' या ''नहीं'' के बजाय विस्तार में दिया जाना जरूरी है। यीशु के समय में, आने वाले ''मसीह'' के बारे में लोगों की समझ अलग-अलग थी। यदि यीशु कहता, ''हां मैं ही मसीह हूं,'' तो वे लोग जो ''मसीह'' के दाऊद या सुलैमान की तरह एक शक्तिशाली सांसारिक राजा होने की उम्मीद कर रहे थे, पूरी तरह से गलत समझते। यदि वह कहता ''नहीं'' तो वह अपने बारे में सच्चाई को नकार रहा होता। ऐसी दुविधा में यीशु ने एक ऐसे वाक्य में उत्तर दिया जो सच्चे मन से परमेश्वर के खोजियों ने उसके विरोधियों को उसके विरोध में कुछ भी इस्तेमाल करने के लिए दिए बिना ही समझ जाना था। यूहन्ना 10 अध्याय की तरह एक चरवाहे और उसकी भेड़ का चित्र दिखाते हुए, यीशु ने कहा, ''मेरी भेड़ें मेरा शब्द सुनती हैं, और मैं उन्हें जानता हूं, और वे मेरे पीछे-पीछे चलती हैं'' (10:27)।

एक जगह और यीशु ने कहा था कि यदि लोग सचमुच विश्वास से ''मांगें, ढूंढ़ें और खटखटाएं,'' तो उन्हें ''मिलेगा, पाएंगे और उनके लिए द्वार खोला जाएगा'' (मत्ती 7:7, 8)। विश्वास के लिए दिमाग़ की ही नहीं, बल्कि इससे भी अधिक की जरूरत होती है। एक खुला मन और आज्ञा मानने की इच्छा विश्वास के बढ़ने के लिए आवश्यक बातें हैं।

फिर, चतुर, क्रुद्ध यहूदी अगुओं से घिरे यीशु ने कुछ ऐसा कहा जिससे वे और भी आग बबूला हो गए। उसने ऐलान किया, ''मैं और पिता एक हैं'' (10:30)। इस आयत में ''एक'' का अर्थ मूलत: ''एक वस्तु''[8] है, जो यह संकेत देता है कि यीशु और पिता एक इकाई थे। यीशु ने यह दावा करते हुए कि वह वास्तव में परमेश्वर का पुत्र है, अपनी ईश्वरीयता के बारे में फिर एक स्पष्ट बात कह डाली। विरोधियों से घिरा होने के बावजूद यीशु ने अपनी पहचान की यह महत्वपूर्ण सच्चाई नहीं छुपाई।

उन्होंने पत्थर उठा लिए (10:31-38)

यहूदी अगुवे यीशु के इस दावे को कि वह और पिता एक हैं, सुन नहीं पाए। उन्होंने पत्थर उठा लिए (10:31), क्योंकि वे इतने क्रोधित हो गए थे कि वे उसे मन्दिर में ही पत्थर मारना चाहते थे! यह मानकर कि यीशु की बातें परमेश्वर की निन्दा हैं, उन्हें लगा कि वे जो कुछ कर रहे हैं, वह उचित है। अपने ऊपर आरोप लगाने वालों के हाथों में पत्थर होने के बावजूद यीशु परमेश्वर का पुत्र होने के अपने दावों की सच्चाई बताता रहा।

विवाद बढ़ने पर यीशु ने अपने विरोधियों से कहा, ''मैंने तुम्हें अपने पिता की ओर से बहुत से भले काम दिखाए हैं, उन में से किस काम के लिए तुम मुझे पत्थरवाह करते हो?'' (10:32)। उन्होंने उत्तर दिया कि वे उसे उसके कामों के लिए नहीं, बल्कि परमेश्वर की

निन्दा करने के कारण मारना चाहते हैं। यहूदी अगुओं पर कम से कम यीशु की बातों का असर तो हुआ। उन्होंने कहा, "... तू मनुष्य होकर अपने आप को परमेश्वर बनाता है" (10:33)। यदि यीशु केवल मनुष्य ही होता, तो जो कुछ वे कह रहे थे, वह सत्य होना था। पर परमेश्वर का पुत्र होने के कारण उसके पास ऐसे दावे करने का पूरा अधिकार था और कारण भी।

यीशु ने भजन 82:6 के शब्दों से अपने विरोधियों को चुनौती देते हुए उनका सामना किया, जहां लिखा है, "मैंने कहा था कि तुम ईश्वर हो।" उसने तर्क दिया कि यदि पवित्र शास्त्र ने अतीत में उन्हें ऐसा कहा था, तो उसी भाषा का इस्तेमाल कर वह कोई गलती नहीं कर रहा था। आखिर, उसने यही तो दावा किया था कि वह वही था "जिसे पिता ने पवित्र ठहराकर जगत में भेजा" (10:36)।

यूहन्ना ने यीशु को अपने बारे में सच्चाई के अपने दावे में अटल होते दिखाया। बेशक लोग पहले से ही क्रोध में थे और उनके हाथों में पत्थर अभी भी थे, पर यीशु अपनी बात पर स्थिर रहा। उसने उन्हें उसके कामों और यह देखने के लिए कहा कि वे काम पिता के काम जैसे हैं या नहीं। वह अपनी इस बात पर कायम रहा कि वह पिता का काम कर रहा था इसलिए उन्हें उसकी बात पर विश्वास करना चाहिए, "कि पिता मुझ में है, और मैं पिता में हूं" (10:38)। इस सब का अर्थ उस दिन मन्दिर में खड़े उसके निकट के सब लोगों को समझ आता था अर्थात यह कि यीशु फिर परमेश्वर का पुत्र होने का दावा कर रहा है! भीड़ द्वारा पत्थर मारकर उसे मारने की धमकी भी अपने बारे में सच्चाई का प्रचार करने से उसे नहीं रोक पाई।

उन्होंने फिर उसे पकड़ना चाहा (10:39-42)

यीशु के विरोधियों ने उसे पकड़ने की पूरी कोशिश की, परन्तु वह वहां से बचकर निकलने में सफल हो गया और यहूदी अगुओं के साथ एक दूसरे मुकाबले में "विजयी" हुआ। यीशु यह दिखाता रहा कि वह अपने विरोधियों की इच्छानुसार नहीं बल्कि अपने समय पर अपना प्राण देगा (10:17,18)। हमें यह नहीं बताया गया कि यीशु ने ऐसा कैसे किया, पर किसी तरह बचकर "वह उन के हाथ से निकल गया" (10:39)।

मन्दिर में विरोधियों का सामना करने के बाद, यीशु यरदन नदी के पार चला गया जहां पहले यूहन्ना बपतिस्मा देने वाले ने प्रचार की जबर्दस्त सेवकाई की थी। अब तक, यरूशलेम में यीशु की अधिकतर सार्वजनिक सेवकाई पूरी हो चुकी थी। उसने दावे कर दिए थे, और युद्ध रेखाएं भी खिंच चुकी थीं। यीशु को लेकर लोगों में बहुत फूट पड़ चुकी थी। कइयों के लिए तो वह परमेश्वर का पुत्र था, जबकि दूसरों को वह नरक से आया शैतान लगता था।

यरदन नदी पर बहुत से लोग उसके पास आए थे। उनका यहां आना यीशु पर उनके विश्वास के कारण ही था। उन्होंने कहा, "यूहन्ना ने तो कोई चिह्न नहीं दिखाया, परन्तु जो कुछ यूहन्ना ने इस के विषय में कहा था, वह सब सच था" (10:41)। उनके कहने का तात्पर्य यह था कि यूहन्ना ने यीशु की तुलना में जिसने बहुत से चिह्न दिखाए थे, कोई चिह्न

नहीं दिखाया था। महत्वपूर्ण बात यह है कि यूहन्ना द्वारा प्रयुक्त "चिह्न" शब्द अध्याय 10 में पहली बार आयत 41 में मिलता है। अध्याय के आरम्भ में यीशु के आश्चर्यकर्मों को केवल "काम" कहा गया था,[9] क्योंकि उनसे उन आश्चर्यकर्मों को देखने वालों के मन में कोई विश्वास उत्पन्न नहीं हुआ था। पर आयत 41 में "चिह्न" शब्द का इस्तेमाल किया गया है जहां यीशु में विश्वास का उल्लेख है।

अध्याय 10 की सभी घटनाओं का निष्कर्ष यह है कि "वहां बहुतेरों ने उस पर विश्वास किया" (10:42)। पचास वर्ष से विवाहित एक दम्पत्ति द्वारा इकट्ठे बिताए समय की ओर पीछे मुड़कर देखने और याद करने की तरह कि उनके जीवन में "मैं तुम से प्रेम करता/करती हूं" के कितने अलग-अलग अर्थ थे, यूहन्ना रचित सुसमाचार का पाठक समझता है कि यीशु की कहानी सुनने पर "बहुतेरों ने उस पर विश्वास किया" के अलग-अलग अर्थ हो सकते हैं।

यूहन्ना रचित सुसमाचार की इस बात से, यीशु पर विश्वास करने वाले समझ गए थे कि सच्चे विश्वास का *सार* यही है कि यीशु ही मसीह, अर्थात परमेश्वर का पुत्र है। वे यह भी समझ गए थे कि इस विश्वास का *दाम* झगड़ा, फूट और मृत्यु का भय भी हो सकता है। क्योंकि अध्याय के अन्त में हम उन्हें जंगल में उस आदमी के पीछे भगाए गए लोगों के एक दल के साथ देखते हैं जिसमें उन्होंने विश्वास किया था।

यह बताने के लिए कि विश्वास कितना महंगा हो सकता है, यूहन्ना ने एक कठिन संदेश दिया है पर उसके संदेश से उत्साह भी मिलता है। वह हमें यह समझाना चाहता था कि मसीह में विश्वासी होने के कारण हमारा विरोध किया जाएगा। पर विरोध से या हमारे मनों के उत्पीड़न से किसी भी प्रकार हमें हैरान नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त, यीशु का उदाहरण हमें उस सच्चाई में बने रहने के लिए दिया गया है जिसका हम विश्वास करते हैं, तब भी जब हम सताए जाएं। उग्र विरोध के जवाब में उसकी प्रतिक्रिया सच्चाई बताने का ही एक ढंग थी और हमारी प्रतिक्रिया भी वैसी ही होनी चाहिए।

सारांश

यह घटना समर्पण के पर्व के दौरान हुई। विडम्बना यह है कि परमेश्वर के अपने लोगों के छुटकारे के जश्न को मनाने के यीशु के इस पर्व में आने पर उन लोगों ने उसके साथ एक दुष्ट और परमेश्वर की निन्दा करने वाले व्यक्ति जैसा व्यवहार किया। यहूदी अगुओं ने उसे एक खतरनाक और घृणित विधर्मी के रूप में देखा। उन्हें यह अहसास नहीं हुआ कि शीघ्र ही यीशु ने उन्हें सच्चा छुटकारा देने के लिए क्रूस पर चढ़ना था। उन्हें यह अहसास भी नहीं हुआ कि उसने अपने लोगों के पाप धोने के लिए किसी जानवर का नहीं बल्कि अपना ही लहू बहाना था। उन्होंने इस बात को नहीं समझा कि वे उस दिन परमेश्वर के पापरहित और निष्कलंक मेमने की हत्या का प्रयास कर रहे थे। आज, हम जो भी विश्वास करते हों, उससे देख सकते हैं कि हम कहां खड़े हैं और हम जानते हैं कि वही बातें सुसमाचार का सार हैं!

पाद टिप्पणियां

[1]1 मकाबी. 1:21. लगभग 100 ई. पू. में लिखी गई मकाबियों की दो अप्रामाणिक (अपोक्रिफा की) पुस्तकों में ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन है जो पुराने और नये नियमों के बीच के समय में हुईं। दोनों पुस्तकें फलस्तीन में यहूदी धर्म के दमन के प्रयासों और 166–40 ई. पू. में स्वतन्त्रता के लिए यहूदी संघर्ष पर केन्द्रित हैं। [2]1 मकाबी. 1:41. [3]1 मकाबी. 1:56. [4]1 मकाबी. 1:60–64. [5]1 मकाबी 4:36. [6]लूका 21:20; यूहन्ना 10:24; प्रेरितों 14:20; इब्रानियों 11:30. [7]यहां ''पूछते रहे'' अपूर्ण क्रिया के काल का बोध है। [8]यूनानी धर्म शास्त्र में लिंग भाववाच्य है। [9]10:25, 32, 38 में यूनानी *ergon* का इस्तेमाल हुआ है। पृष्ठ 34–36 पर ''चिह्नों'' पर चर्चा देखिए।